अपने 30 प्रतिशत मुनाफे से हाथ धो बैठते हैं। कभी-कभी तो पूरी फसल चौपट हो जाती है। नई दिल्ली स्थित इंटरनेशनल सोसायटी फॉर टी साइंस के नरेंद्र कुमार जैन के मुताबिक किसानों को कई बार पत्तियां तोड़ने तक की गुंजाइश नहीं मिल पाती।

इस संदर्भ में जैव नियंत्रण की चर्चा बरसों से चल रही है। अब सात साल के अनुसंधान के बाद यू.के. में कैबी बायोसाइन्स के सीन मर्फी व उनके दल ने एक फफूंद ढूंढ निकाली है जो *मिकानिया* का सफाया कर देती है। अब इस फफूंद को चाय बागानों में पहुंचाने की योजना है।

यह फफूंद दरअसल गेरुआ रोग फैलाने वाली *पक्सिनिया स्पेगेज़िनी* है। यह *मिकानिया* के गृह प्रदेश दक्षिण व मध्य अमेरिका में तो *मिकानिया* पर ज़ोरदार हमला करती है और उसे काबू में रखती है। बताया गया है कि पिछले कुछ वर्षों में इंग्लैण्ड में काफी शोध करके देखा गया है कि *पक्सिनिया* अन्य भारतीय वनस्पतियों को कोई नुकसान नहीं पहुंचाती है। अब इसे भारत लाया गया है। अभी इसे अलग-थलग (क्वारेंटाइन में) रखकर परीक्षण किए जा रहे हैं। शायद इस साल के अंत तक इसे चाय बागानों में पहुंचा दिया जाएगा।

बताया गया है कि *मिकानिया* दक्षिण भारत के सागौन व यूकेलिप्टस प्लान्टेशन के लिए भी एक खतरा है। अतः शायद इसका उपयोग वहां भी किया जाएगा। इसके अलावा सीन मर्फी का विचार है कि भारतीय प्रयोग में सफलता मिलने पर *पक्सिनया* का उपयोग चीन, इण्डोनेशिया व मलेशिया में भी किया जा सकता है।

इस संदर्भ में चिंता की बात यह है कि पहले हवाई पट्टियों की सुरक्षा के लिए *मिकानिया* का आयात किया गया। कोई कुदरती शत्रु नहीं होने के कारण वह बेलगाम फैलने लगी। अब हम फफूंद *पक्सिनिया* ला रहे हैं। उसका कोई शत्रु न हुआ और वह फैलने लगी, तो फिर आगे क्या होगा? इस तरह से रसायनों की बजाय बहुराष्ट्रीय स्तर पर जैव-नियंत्रकों का उपयोग कितना सार्थक होगा? कहीं यह स्वयं एक समस्या न बन जाए। ***(स्रोत विशेष फीचर्स)***

पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र पर एक धब्बा

पिछले 400 वर्षों से समुद्री यात्री जो रिकॉर्ड रखते आ रहे थे, उनके विश्लेषण से पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र के बारे में कुछ नई बातें पता चली हैं और यह समझ पाने की उम्मीद बंधी है कि इस चुम्बकीय क्षेत्र में परिवर्तन कैसे और क्यों होते हैं। खास तौर से शायद यह अनुमान लगाया जा सकेगा कि भविष्य में इसमें किस तरह के परिवर्तन की अपेक्षा है।

पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र एक तो इन्सानों व अन्य जीव-जन्तुओं को एक दिशासूचक उपलब्ध कराता है। उससे भी महत्वपूर्ण बात है कि यह पृथ्वी के जीवों को कॉस्मिक किरणों से सुरक्षा प्रदान करता है। इतने महत्वपूर्ण गुण के बारे में हम पूरी तरह जानते नहीं कि इसमें परिवर्तन क्यों होते रहते हैं। जैसे हम यह जानते हैं कि एक नियमित अंतराल (लाख-दस लाख सालों में एक बार) इस चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा पलट जाती है। यह भी पता चला है पिछली एक सदी में पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र 10 प्रतिशत कमज़ोर पड़ा है। तो क्या हम चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा के पलटने के करीब हैं? इस सवाल का जवाब हम नहीं जानते।

तलछटी चट्टानों के अलग-अलग स्तरों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि किस युग में चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा क्या थी। इसके अलावा जमे हुए लावा से भी इसका संकेत मिलता है। इनसे हमें यह भी पता चलता है कि स्थानीय स्तर पर चुम्बकीय क्षेत्र की क्या स्थिति थी। मगर यह पता नहीं चलता कि यह परिवर्तन किस तरह हुआ है। दूसरी ओर उपग्रहों से प्राप्त आंकडों से हमें यह पता चल जाता है कि आज पृथ्वी के अलग-अलग स्थानों पर चुम्बकीय क्षेत्र की स्थिति क्या है। एक सार्वभौमिक चुम्बकीय क्षेत्र में ये छोटे-छोटे धब्बों के समान होते हैं। हम यह जानना चाहते हैं कि समय के साथ इन धब्बों में क्या परिवर्तन होते हैं।

लिहाज़ा लीड्स विश्वविद्यालय के क्रिस्टोफर फिनले व

उनके साथियों ने दुनिया भर के संग्रहालयों से जहाज़ियों द्वारा एकत्रित चुम्बकीय दिक्सूचक आंकड़े इकट्ठे किए। ये आंकड़े 1590 से शुरू होते हैं। इसके अलावा उन्होंने आधुनिक चुम्बकीय सर्वेक्षणों और उपग्रहों के आंकड़े भी ले लिए। इन सारे आंकड़ों को जोड़कर देखने से उन्हें पृथ्वी की सतह के चुम्बकत्व का 400 सालों का चलता-फिरता चित्र मिल गया। इनके आधार पर कम्प्यूटर की मदद से उन्होंने यह पता लगाया कि पृथ्वी के अन्दरुनी भाग में चुम्बकत्व क्या रहा होगा।

अब सामान्य चुम्बकत्व और लम्बे समय की विविधता को हटाकर उन्हें एक मानचित्र प्राप्त हुआ जिस पर वे यह देख पाए कि अल्पावधि में चुम्बकीय क्षेत्र किस तरह बदलता रहा है। पिछले 400 सालों में हमारे चुम्बकीय क्षेत्र में ज़्यादा उथल-पुथल नहीं हुई है। मगर अटलांटिक सागर के एक क्षेत्र में छोटे-छोटे सघन धब्बे हैं जो प्रति वर्ष 17 कि.मी. की रफ्तार से पश्चिम की ओर बढ़ रहे हैं। दरअसल यह आश्चर्य की बात है कि एक ही जगह पर यह परिवर्तन इतने लम्बे समय तक केंद्रित है। इस तरह के पैटर्न की व्याख्या से अन्दाज़ लगेगा कि ये परिवर्तन क्यों होते हैं।

एक तो यह हो सकता है कि धरती के मेंटल की सबसे अंदरी परत और कोर के बीच तापमान में भिन्नता के कारण ये परिवर्तन होते हैं। इस भिन्नता की वजह से तरल लौह से बने कोर के बहाव में अन्तर आएगा जिसका असर चुम्बकत्व पर पड़ेगा। यह भी हो सकता है कि पृथ्वी के अपनी धुरी पर घूमने की वजह से ये परिवर्तन होते हैं। फिनले इन कारणों की जड़ में जाने का प्रयास करेंगे। ***(स्रोत फीचर्स)***

कृत्रिम बीजाण्ड बनाने में सफलता

चौंकिए नहीं, ये कृत्रिम बीजाण्ड मात्र संरचना में ही बीजाण्ड जैसे हैं, कार्य में नहीं। मगर कृत्रिम रूप से बीजाण्डनुमा रचना बन जाने से कई औषधियों को शरीर में पहुंचाना आसान हो जाने की उम्मीद है।

बीजाण्ड वह रचना है जिसका निर्माण प्रजाति के प्रसार हेतु कुछ कम विकसित वनस्पतियों, फफूंदों तथा प्रोटोज़ोआ में होता है। ये बहुत टिकाऊ होते हैं। जैसे एक बारहमासी पौधे *सिलेजिनेला* के बीजाण्ड इतने मज़बूत होते हैं कि उनके अवशेष 5 करोड़ सालों बाद मिले हैं।

अब तक इन बीजाण्डों की संरचना की नकल करना असंभव सा था। यानी एकदम नए सिरे से शुरू करके बीजाण्डनुमा रचना बनाना संभव नहीं था। मगर अब यू.के. में कार्डिफ विश्वविद्यालय के वनस्पति शास्त्री एलन हेम्स्ले और रसायन शास्त्री पीटर ग्रिफिथ ने मिलकर इसे भी संभव कर दिखाया है।

हेम्स्ले व ग्रिफिथ ने इस काम में कोलाइड अवस्था की मदद ली। कोलाइड एक तरह के मिश्रण होते हैं जिन्हें हम घोल तो नहीं कह सकते क्योंकि इनमें पदार्थ के कण काफी बड़े होते हैं। मगर फिर भी ये कण कुछ इस तरह छितरे होते हैं कि नीचे बैठते नहीं और न ही इन्हें छाना जा सकता है। मसलन दूध पानी में चर्बी का कोलाइड है। धुआं भी हवा में कार्बन कणों का कोलाइड है।

कोलाइड अवस्था का एक गुण और होता है कि अलग-अलग परिस्थितियों में ये कोलाइड कण एक-दूसरे से जुड़कर विशिष्ट संरचनाओं का निर्माण कर लेते हैं। मसलन यदि कोलाइड को हिलाया-डुलाया जाए तो उसके कण सम्मिलित होकर काफी जटिल ढंग से जम जाते हैं। दूध से क्रीम का अलग होना इसका एक उदाहरण है।

हेम्स्ले और ग्रिफिथ ने ऐसे पदार्थों का चुनाव किया जो बीजाण्डों की बुनियादी संरचना की नकल बना सकते हैं।